

## Q1. संविधान के निर्वचन के क्या नियम है ? विवेचना कीजिये ।

किसी भी देश का संविधान उस देश की धरोहर एवं मुख्य दस्तावेज होता है, जिसमें उस देश की मूल विधि अन्तर्निहित रहती है। इसलिए जिस प्रकार कानून की अन्य पुस्तकों का निर्वचन करते समय विधायिका का आशय ज्ञात किया जाता है, उसी प्रकार संविधान के उपबन्धों आदि का निर्वचन करते समय संविधान निर्माताओं के आशय को जाना जाता है। किसी संविधानिक उपबन्ध के जब एक से अधिक युक्तियुक्त अर्थ निकलते हैं, तो न्यायालय उस अर्थ को सही मानेगा जिससे संविधान के उपबन्धों का निर्वचन समन्वयपूर्वक चलते रहना सुनिश्चित किया जा सके। जबकि न्यायालय उस अर्थ को सही न मानते हुए अस्वीकार कर देगा जिससे कि | निरर्थकता अथवा व्यावहारिक असुविधा उत्पन्न होती हो। संविधान का निर्वचन व्यापक एवं उदार रूप में किया जाना चाहिए। किसी भी स्थिति में इसका अर्थान्वयन संकुचित या पाण्डित्य प्रदर्शन के रूप में नहीं किया जाना चाहिए।

संविधान किसी देश की सर्वोच्च विधि एक मूल दस्तावेज होता है, इसलिए संविधान को व्याख्या उदारतापूर्वक की जानी चाहिए। संविधान की व्याख्या करते समय न्यायालय को व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए परन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि उसमें निहित वैध एवं संवैधानिक सिद्धान्तों को सर्वोच्च स्थान प्रदान करने की दृष्टि से उसको भाषा एवं शब्दावली को अधिक खींचा या मोड़ा नहीं जाना चाहिए। संविधान में संसद द्वारा प्रयुक्त की गई भाषा को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए। यदि व्याख्या से संविधान के किसी उपबन्ध के एकाधिक अर्थ निकलते हैं, तो ऐसे अर्थ वाली व्याख्या को अंगीकृत किया जाना चाहिए जिससे संविधान की सार्थकता सुनिश्चित हो सके।

### संविधान की व्याख्या में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए

1. संविधान की व्याख्या उदारतापूर्वक की जानी चाहिए।
2. संविधान की व्याख्या में व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।
3. संविधान की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि उससे अधिकतम सम्भावित हितों की रक्षा हो सके।
4. संविधान की व्याख्या से प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता का फल प्राप्त हो सके।
5. संविधान की व्याख्या संकुचित धारणा एवं विद्वता के प्रदर्शन हेतु नहीं की जानी चाहिए। 5. संविधान की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए जिससे राष्ट्रीय जीवन एवं महत्वाकांक्षाओं को उसमें स्थान मिल सके।

**केशवानन्द भारती**, A.I.R. 1973, S.C. 1461 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा | अवधारित किया गया कि संविधान का अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे अधिकतम सम्भावित हित प्राप्त किया जा सके। संसद को संविधान की सीमाओं के भीतर स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए जिससे स्वतन्त्रता का अशीवांद सभी को मिल सके। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि संविधान को संकुचित और पाण्डित्य प्रदर्शन के रूप में अर्थान्वयित नहीं किया जाना चाहिए। एक अन्य मामले में न्यायालय द्वारा स्पष्ट किया गया कि, ऐसा तर्क जिसका आधार संविधान की आत्मा के दावे को बनाया गया हो सदा आकर्षित करती है, क्योंकि इसके पृष्ठ में

भावुकता और आवेग का शक्तिशाली आग्रह रहता है, किन्तु न्यायालय संविधान की आत्मा को संविधान में प्रयुक्त भाषा से ही ढूँढ़ेगा। किसी का यह सोचना कि संविधान की आत्मा यह है उचित नहीं है, यदि संविधान की भाषा उसकी पुष्टि नहीं करती हो। संविधान की आत्मा स्पष्ट भाषा पर अभिभावी नहीं हो सकती है, क्योंकि शब्दों का अर्थ ही विधि की आत्मा होता है। केशवानन्द भारती के ही मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया कि संविधान के अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त शब्द 'संशोधन' का सही अर्थ बाह्य स्रोतों, जैसे शब्दकोष इत्यादि में नहीं ढूँढ़ कर संविधान के अन्दर ही ढूँढ़ा जाना चाहिए। यदि शब्द के सही अर्थ में कोई संदिग्धता हो, तो संविधान की उद्देशिका से सहायता ली जानी चाहिए, क्योंकि उद्देशिका में प्रयुक्त शब्दों को सही मानने के लिए हम बाध्य हैं। शब्द 'संशोधन' को अलग रूप में नहीं पढ़ा जाकर एक मिश्रित दस्तावेज में प्रयुक्त शब्द के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। इस अनुच्छेद में संविधान के संशोधन की शक्ति एवं प्रक्रिया दोनों ही निहित हैं और पार्श्व टिप्पण में उल्लिखित शब्दों "संविधान का संशोधनकारी की प्रक्रिया" को अनुचित महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अनुच्छेद की भाषा स्पष्ट है। इस उपबन्ध के द्वारा संसद को प्रदत्त शक्ति विशिष्ट है और इस शक्ति का उपयोग केवल संसद ही कर सकती है तथा इस शक्ति को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता।

साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की विशिष्ट प्रकृति, अर्थात् संविधान, और संविधान की आत्मा को केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य, A.I.R. 1973, S.C. 1461 के मामले में संविधान की आत्मा को न्यायालय का समर्थन मिला है, जिसमें न्यायाधीश निर्मित संकल्पना के रूप में आधारीक लक्षण के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया।

**संविधान का निर्वचन करने के सिद्धान्त**-न्यायालयों ने संविधान का निर्वचन करने में निम्नलिखित सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए उन्हें उद्धृत किया है

**(1) विवक्षित शक्तियों का सिद्धान्त**- वे विधियाँ जो शक्तियों के निष्पादन के लिए आवश्यक और उचित होती हैं; अथवा जो इस शक्तियों के निष्पादन के लिए आवश्यक और उचित होती हैं, अथवा जो इन शक्तियों के लिए विवक्षित हैं, विवक्षित शक्तियाँ कहलाती हैं और ऐसी उपधारणा है "कि ये विधियाँ सांविधानिक होती हैं। सांविधिक शक्तियों को सामान्य शैली में अनुदत्त किया जाता है जिनमें से आवश्यक रूप में विवक्षित शक्तियों का उद्भव होता है। निर्वचन का यह एक स्थापित सिद्धान्त है कि जब भी संविधान द्वारा कुछ शक्तियाँ प्रदत्त की जाती हैं या कुछ अवरोध लगाये जाते हैं, तो उन्हें सम्पन्न करने या निष्पादित करने में जिन शक्तियों की आवश्यकता होती है वे भी विवक्षित तौर पर उसके द्वारा प्रदत्त होती हैं और प्राकृतिक रूप में इसका अर्थ यह है कि यह विवक्षित शक्तियाँ भी सांविधानिक हैं। संसद को यह चुनने और प्रयोग करने का अधिकार है। कि संविधान द्वारा प्रदत्त इन शक्तियों का निष्पादन वह किन साधनों द्वारा करवाये।

**बीड़ी लीब्ज एण्ड मरचेन्स एसोसियेशन बनाम बम्बई राज्य**, A.I.R. 1962, S.C. 486 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि विवक्षित शक्तियों का सिद्धान्त उन सभी परिस्थितियों पर लागू होता है जहाँ पर संविधान के तात्त्विक उपबन्धों का पालन असम्भव हो। साथ ही उच्चतम न्यायालय ने सचेत भी किया है कि, विवक्षित शक्तियों के मुकाबले में स्पष्ट शक्तियों का निर्वचन करते समय न्यायालयों को बहुत सावधान करने की आवश्यकता है, जिससे किसी स्पष्ट और निश्चित अर्थ का अनावश्यक रूप से विस्तृत निर्वचन कर उसे बिगाड़ न दिया जाय।

**(2) आनुषांगिक या प्रासंगिक शक्तियों का सिद्धान्त**- आनुषांगिक या प्रासंगिक शक्तियों का सिद्धान्त विवक्षित शक्तियों के सिद्धान्त से मिलता-जुलता ही सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त इस सिद्धान्त पर आधारित है कि, संविधान सर्वोपरि विधि होने के कारण इसका निर्वचन संकुचित या पाण्डित्य प्रदर्शन के रूप में न किया जाकर उदार एवं विस्तृत रूप से किया जाना चाहिए जैसा कि केशवानन्द भारती के मामले में अवधारित किया गया। भारत के संविधान की सातवीं सूची में उल्लिखित तीनों अनुसूचियों का बार-बार विस्तृत एवं उदार रूप में निर्वचन किया गया है। संघ सूची की प्रविष्टि 93 और राज्य सूची की प्रविष्टि 64 में लिखे गये शब्द "इस सूची के विषयों में से किसी विषय से सम्बन्धित विधियों के विरुद्ध अपराध" आनुषांगिक और प्रासंगिक शक्तियों के सिद्धान्त हैं।

उच्चतम न्यायालय द्वारा बार बार अवधारित किया गया है कि, संविधान की सातवीं अनुसूची की तीनों सूचियों में किसी प्रविष्टि में प्रयोग सामान्य शब्द को इस प्रकार निर्वाचित किया जाना चाहिए कि उसका विस्तार सभी प्रासंगिक या समानुषांगी विषयों तक हों उचित और युक्तियुक्त रूप से उसके अन्दर सम्मिलित किये जा सकते हों। किसी विशिष्ट विषय पर विधि निर्माण की शक्ति में उस विषय पर भूतलक्षी प्रभाव से विधिमान्य विधि निर्माण भी सम्मिलित है। यदि उस विषय पर पूर्व विधि को असांविधिक घोषित कर दिया गया हो। संविधान की सातवीं अनुसूची की तीनों सूचियों के उदार एवं विस्तृत निर्वचन करने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि निर्वाचन को अयुक्तियुक्त रूप से किसी भी सीमा तक खींचा जाय। इस प्रकार का विस्तृत अर्थान्वयन न करने की चेतावनी समय-समय पर उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गयी हो। अब्दुल कादिर एण्ड कम्पनी | बनाम विक्रय कर अधिकारी, A.I.R. 1964, S.C. 922 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा | अवधारित किया गया कि, जहाँ पर राज्य द्वारा अविधिक रूप से किसी साधारण व्यवहारी पर अधिरोपित विक्रय कर को वापस प्राप्त करने का अधिकार उसे दिया गया है, इसे राज्य सूची की प्रविष्टि 54 के अन्तर्गत राज्य द्वारा अधिरोपित माल के विक्रय पर कर नहीं माना जा सकता है।

**(3) विवक्षित प्रतिषेध का सिद्धान्त**-विवक्षित प्रतिषेध के सिद्धान्त का उद्भव "एक्सप्रेसियो यूनियस एस्ट एक्सक्लूशियो आलटीरियस" सूत्र से हुआ है। जिसका तात्पर्य है कि, "एक वस्तु का स्पष्ट उल्लेख दूसरे का अपवर्जन है।" किसी विषय का स्पष्ट उल्लेख जिस पर केन्द्रीय विधायिका विधान बनाने के लिए सशक्त है, का अर्थ यह है कि अवशिष्ट क्षेत्रों में केन्द्रीय विधायिका द्वारा विधान निर्माण कर विवक्षित प्रतिषेध है। इसका अर्थ यह हुआ कि केन्द्रीय विधायिका द्वारा राज्य की अवशिष्ट शक्तियों पर अतिक्रमण को विवक्षित तौर पर रोक दिया गया है। यह सिद्धान्त भी निर्वचन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। संघ या केन्द्रीय

विधायिका को कुछ विषयों पर, जिनको एक सूची के रूप में सूचीबद्ध किया गया है, विधायी शक्ति प्रदान की गयी हैं। और सूची से परे रखे गये सभी विषयों पर राज्य विधायिका को विधि बनाने के लिए सशक्त किया गया है।

**(4) दखलकृत क्षेत्र का सिद्धान्त-** दखलकृत क्षेत्र के सिद्धान्त का अर्थ यह है कि जब संघ का विधायिका किसी विशिष्ट विषय पर विधि बनाती है और इस प्रकार उस क्षेत्र पर दखल (कब्जा अथवा आधिपत्य अथवा अधिकार) कर लेती है, तो राज्य विधायिकाओं को उस क्षेत्र पर विधि निर्माण का कोई अधिकार या दखल नहीं रहता है। इसी को दखलकृत क्षेत्र का सिद्धान्त कहा जाता है। भारत में संघ सूची एवं राज्य सूची के रूप में क्रमशः संघीय विधायिका एवं राज्य विधायिकाओं को विनिर्दिष्ट विषयों पर विधि बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है। फिर भी यदि कोई राज्य विधायिका संघीय विधायिका के विषय पर कोई विधि अधिनियमित करती है, तो राज्य द्वारा अधिनियमित विधि उस सीमा तक असांविधिक होगी। समवर्ती सूची में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में दोनों ही विधायिकाएँ विधि-निर्माण कर सकती हैं। अतः विवाद का विषय यही है। परन्तु इस विवाद को अनुच्छेद 254 के उपबन्ध ने सुलझा दिया है। अनुच्छेद 254 (1) स्पष्ट करता है कि यदि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी विधि का कोई उपबन्ध संसद द्वारा बनायी गयी विधि के, जिसे अधिनियमित करने के लिए संसद सक्षम है, किसी उपबन्ध के समवर्ती सूची में प्रगणित किसी विषय के सम्बन्ध में विद्यमान विधि के किसी उपबन्ध के विरुद्ध है, तो खण्ड (2) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए यथास्थिति, संसद द्वारा बनायी गयी विधि, चाहे वह ऐसे राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी विधि से पहले या उसके बाद में पारित की गयी हो, या विद्यमान विधि, अभिभावी होगी और उस राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी विधि उस विरोध की मात्रा तक शून्य होगी।

अनुच्छेद 254(2) के अनुसार, जहाँ राज्य के वनमण्डल द्वारा समवर्ती सूची में प्रगणित किसी विषय के सम्बन्ध में बनायी गयी विधि में कोई ऐसा उपवेध अन्तर्विष्ट है, जो संसद द्वारा पहले बनायी गयी विधि के या उस विषय के सम्बन्ध में किसी विद्यमान विधि के उपबन्धों के विरुद्ध है, तो ऐसे राज्य के विधानमण्डल द्वारा इस प्रकार बन गयी विधि को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखा गया है और उस पर उसकी अनुमति मिल गयी है, तो वह विधि उस राज्य में अभिभावी होगी; परन्तु इस खण्ड की कोई बात संसद को उसी विषय के सम्बन्ध में कोई विधि जिसके अन्तर्गत ऐसी विधि है, जो राज्य के विधानमण्डल द्वारा इस प्रकार बनायोग विधि का परिवर्धन, संशोधन, परिवर्तन या निरसन करती हैं, किसी भी समय अधिनियमित करने से निवारित नहीं करेगी।

**(5) सार और मर्म का सिद्धान्त** - इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि यदि कोई अधिनियमि सारतः संविधान के द्वारा प्रदत्त उस विधायिका की शक्तियों के अन्तर्गत है जिसने उसे अधिनियमित किया है तो वह केवल इस कारण अविधिमान्य नहीं हो जाती कि वह संविधान के द्वारा प्रदत्त किसी अन्य विधायिका के क्षेत्र को भी आनुषांगिक रूप में छूती है। अतः यह सिद्धान्त किसी विधायिका को सम्बद्ध सूची में प्रगणित विषय पर विधि बनाने को सक्षमता को जाँचने के लिए लागू किया जाता है। न्यायालयों के समक्ष यह प्रश्न बार-बार आता रहता है कि क्या एक विधि जो किसी विशिष्ट प्रविष्टि या प्रविष्टियों पर तात्पर्यित है, वास्तव में क्या किसी और सूची में किसी अन्य प्रविष्टि के अन्तर्गत बनायी गयी है जिसमें वह विधायिका विधि बनाने के लिए सक्षम नहीं थी, और इस प्रश्न का हल सार और मर्म के सिद्धान्त को लागू करके निकाला जाता है।

**एम. इस्माइल फारूकी बनाम भारत संघ**, a.i.r. 1995, s.c. 605 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा स्पष्ट किया गया कि, अयोध्या के कतिपय क्षेत्रों का अर्जन अधिनियम, 1995 का सार और मर्म सम्पत्ति का अर्जन है, लोक व्यवस्था नहीं। यह अधिनियम संभवती सूची की प्रविष्टि 42 के अन्तर्गत अधिनियमित है। सुसंगत समय में उत्तर प्रदेश राज्य राष्ट्रपति शासन में होने के कारण संसद को विधायी सक्षमता पर कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। ऐसा अर्थान्वयन जो बृहत् राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहित करता है, गुटबन्दी और फूट को जन्म देने वाले कठोर शाब्दिक अर्थान्वयन से श्रेयस्कर है।

**झीलुभाई नानभाई खाचर बनाम गुजरात राज्य**, a.i.r. 1995, s.c. 142 के मामले में मुम्बई भूधृति राजस्व संहिता एवं भूधृति समाप्ति विधियाँ (गुजरात) संशोधन अधिनियम, 1982 की विधिमान्यता तथा राज्य सूची की प्रविष्टि 18 में प्रयुक्त शब्द 'भूमि' के अर्थ के प्रश्नों पर विचार किया गया। उच्चतम न्यायालय द्वारा स्पष्ट किया गया कि संशोधन अधिनियम का सार और मर्म मुख्य रूप में गिरासदारों, वारखलीदारों या अन्य व्यक्तियों में किसी अनुदान या करार द्वारा अथवा न्यायालय की डिक्री, आदेश या

निर्णय द्वारा निहित अधिकारों की समाप्ति है जिनका सम्बन्ध उन भूमियों से है जिनमें खानें, खनिज अथवा खदानें हैं और उनके अर्जन द्वारा उन्हें राज्य में निहित करना है। राज्य सूची की प्रविष्टि 18 में प्रयुक्त शब्द 'भूमि' का अर्थ केवल कृषीय भूमि तक ही सीमित नहीं है। भूमि में विद्यमान हित पर निर्बन्धन अथवा उसकी समाप्ति में भूमि में या भूमि पर अधिकारों की समाप्ति के लिए उपबन्ध भी सम्मिलित हैं। संशोधन अधिनियम राज्य सूची की प्रविष्टियों 23 एवं 18 के अन्तर्गत है जिन्हें समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 के अन्तर्गत पड़ा जाना चाहिए।

**डी. एन. बैनर्जी बनाम पी. आर. मुखर्जी**, a.i.r. 1953, s.c. 58 के मामले में ऐसा ही प्रश्न अन्तर्ग्रस्त था। संसद द्वारा औद्योगिक विवाद अधिनियम पारित किया गया जो नगरपालिका एवं उसके कर्मचारियों को भी प्रभावित करता था। इस अधिनियम को इस आधार पर चुनौती दी गयी कि नगरपालिका स्थानीय स्वशासन विषय है जो राज्य सूची में आता है अतः उस पर संसद द्वारा विधि का निर्माण नहीं किया जा सकता है। जनतम न्यायालय द्वारा सार तल ग्रहण के सिद्धान्त को लागू करते हुए यह अवधारित किया गया कि संसद द्वारा औद्योगिक विवाद अधिनियम पारित करने का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक पर्व श्रम सम्बन्धी विवादों पर विधि निर्मित करना रहा है जो कि संघ सूची का विषय है। स्थानीय स्वशासन को प्रभावित करने का उसका कोई उद्देश्य नहीं था। अतः यह अधिनियम निधिमान्य है।

इस प्रकार सार तत्व ग्रहण का सिद्धान्त सार और गर्म के आधार पर विधियों का करता है। यदि यह सिद्धान्त नहीं होता तो शायद कई विधियाँ अविधिमान्य घोषित हो जाती ।।

**(6) आभासी विधान का सिद्धान्त** यदि किसी राष्ट्र का संविधान ऐसी विभिन्न संस्थाओं के बीच विषायी शक्तियों को वितरित करता है, जिन्हें अपनी अपनी परिधि के भीतर विनिर्दिष्ट विधायी प्रविष्टियों के अनुसार कार्य करना है, अथवा जब मूल अधिकार के रूप में विधायी प्राधिकार पर परिसीमा हो, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या कानून की विषय-वस्तु के सन्दर्भ में या उसके अधिनियमित किये जाने के ढंग में किसी विशिष्ट मामले में विधायिका द्वारा

सांविधिक शक्तियों का उल्लंघन किया गया है अथवा नहीं। इस प्रकार के उल्लंघन प्रत्यक्ष, प्रकट या स्पष्ट हो सकते हैं, अथवा यह छद्म, गुप्त या परोक्ष भी हो सकते हैं और इन परवर्ती मामलों के वर्ग को कतिपय न्यायिक निर्णयों में आभासी विधान का नाम दिया गया है। इस अभिव्यक्ति द्वारा भाव व्यक्त किया गया है कि, यद्यपि कोई विधायिका कोई कानून बनाते समय अपनी विधायी शक्तियों की सीमा के अनुरूप कार्य करने का आभास देती है तथापि सार में एवं वास्तव में वह उन शक्तियों का अतिक्रमण करती है।

**जी. नागेश्वर राव बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य पथ परिवहन नियम**, A.I.R. 1958, S. C. 314 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि मोटर वाहन अधिनियम, 1939 के अध्याय iv- क को इस आधार पर आभासी विधान नहीं कहा जा सकता कि इसने राज्यों के निगमों और नागरिकों के व्यवसाय के अन्तर्गत किया है।

इसके विपरीत महाराणा श्री जसवन्त सिंह जी रणमल सिंह जी बनाम गुजरात राज्य, A.I.R. 1962, S.C. 821 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अवधारित किया गया कि मुम्बई भूधृति समाप्ति विधियाँ (संशोधन) अधिनियम, 1958 की धाराएँ 3, 4 और 6 आभासी विधान इस आधार पर हैं कि, किरायेदार को परिभाषित करने या साक्ष्य के नियम को परिवर्तित करने के बहाने भूधृतियों को देय क्रम मूल्य को अधिनियम ने घटा दिया।

**(7) राज्य क्षेत्रीय सम्बन्ध का सिद्धान्त**- इस सिद्धान्त को संविधान के अनुच्छेद 245 द्वारा समझा जा सकता है। इसके खण्ड (1) के अनुसार इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए संसद भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगी और किसी राज्य का विधानमण्डल सम्पूर्ण राज्य या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा। अनुच्छेद 245 (2) में यह उल्लिखित है कि, संसद द्वारा बनायी गयी कोई विधि इस आधार पर अविधिमान्य नहीं समझी जायेगी कि इसका राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन होगा। इससे स्पष्ट है कि राज्यक्षेत्रातीत विधि बनाने की शक्ति केवल संसद को ही प्रदत्त की गयी है। कोई

भी राज्य ऐसी विधि नहीं बना सकता जिसका कि प्रभाव किसी दूसरे राज्य पर पड़े। परन्तु यदि किसी राज्य निधि का उस विधि की विषय-वस्तु के साथ पर्याप्त सम्बन्ध है तो वह राज्य विधि विधिमान्य है, चाहे उसका प्रवर्तन राज्य क्षेत्रातीत ही क्यों न हो।

**बिहार राज्य बनाम चारुशीला दास**, A.I.R. 1959, S.C. 1002 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिनिश्चित किया गया कि किसी राज्य में जहाँ भी मूर्त या धार्मिक प्रतिष्ठान ..

स्थित हैं, उस राज्य के विधानमण्डल को विधि के अन्तर्गत उनके सम्बन्ध में विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है, और यह शक्ति तब भी बनी रहती है, जब उस प्रतिष्ठान की सम्पत्ति का बड़ा अथवा छोटा भाग किसी अन्य राज्य में स्थित हो। इसका प्राकृतिक परिणाम यह है कि इस विधि को अधिनियमित बनाने वाला राज्य विधानमण्डल

न्यासियों और उनके सेवकों और अभिकर्ताओं, जो न्यास के प्रशासन के लिए उस राज्य में निवास करते हैं, के लिए भी विधि बनाने के लिए सक्षम है

**(8) पृथक्करण का सिद्धान्त** - यह सिद्धान्त एक सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त है कि, जब किसी अधिनियमिती की संवैधानिकता का प्रश्न पैदा होता है और यह ज्ञात हो जाय कि उस अधि नियमिती का एक भाग जिसे अविधिमान्य अभिनिश्चित कर दिया गया है, अधिनियमिती के अन्य भाग से पृथक् किया जा सकता है, तो केवल वह भाग जिसे पृथक् कर दिया गया है असंवैधानिक से घोषित किया जायेगा, जबकि शेष भाग संवैधानिक बना रहेगा। परन्तु जहाँ पर किसी अधिनियमिती के भाग को पृथक् किया जाना किसी भी प्रकार सम्भव न हो, तो उस अधिनियमिती को ही असंवैधानिक घोषित कर दिया जाता है।

**किहोता होलाहान बनाम जाचीलू**, A.I.R. 1993, S.C. 412 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दल-बदल अधिनियम द्वारा संविधान में जोड़ी गयी दसवीं अनुसूची के पैरा 7 को असंवैधानिक घोषित किया गया, लेकिन यह कहा गया कि उसे निकाल देने से पूरे अधिनियम पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है अतः शेष भाग विधिमान्य बना रहेगा।

**एच. आर. वाठिया बनाम भारत संघ**, A.I.R. 1970, S.C. 1453 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने पृथक्करण के सिद्धान्त के आधार पर स्वर्ण नियन्त्रण अधिनियम, 1968 के कतिपय उपबन्धों को अभिखण्डित कर दिया और चूँकि वे अधिनियम के शेष उपबन्धों के साथ जटिल रूप से बँधे हुए नहीं थे, अतः उन शेष उपबन्धों को विधिमान्य अभिनिर्धारित किया गया।

## Q2. निम्नलिखित की विवेचना कीजिये --

(अ) ग्रहण का सिद्धान्त ।

(ब) सार और मर्म का सिद्धान्त ।

**(अ)ग्रहण का सिद्धान्त** - भारतीय संविधान के अनुच्छेद 13(1) के अनुसार इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले भारत के राज्य क्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियाँ उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं। अनुच्छेद 13(2) के अनुसार, राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनायेगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती है या न्यून करती है और इस खण्ड के उल्लंघन में बनायी गयी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।

ग्रहण का सिद्धान्त अथवा आच्छादन का सिद्धान्त यह कहता है कि संविधान के पूर्व निर्मित ऐसी विधि जो संविधान से असंगत है मृतप्रायः को जाती है। अर्थात् उस पर ग्रहण लग जाता है और वह आच्छादित हो जाती है। लेकिन पश्चातवर्ती किसी अनुकूल संशोधन द्वारा उस आच्छादन अर्थात् ग्रहण को हटा कर उस विधि को पुनर्जीवित किया जा सकता है। अर्थात् वह विधि पुनः प्रवृत्त हो जाती है। इस प्रकार आच्छादन का यह सिद्धान्त अनुच्छेद 13(1) पर लागू होता है अनुच्छेद 13(2) पर नहीं। यह प्रारम्भ से ही मृत रूप में अस्तित्व में आती है जिसे पुनर्जीवित किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आच्छादन का सिद्धान्त संविधान के अनुच्छेद 13(1) व 13(2) के बीच के अन्तर से उत्पन्न होता है। दुलारे लोध बनाम तृतीय अतिरिक्त जिला जज कानपुर, A.I.R. 1984, S.C. 1260 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा एक अधिनियम की धारा पर ग्रहण का सिद्धान्त लागू करते हुए अवधारित किया कि, एक किरायेदार के विरुद्ध पूर्व में पारित बेदखली के कष्ट को समाप्त करने.

के लिए इस धारा का भूतलक्षी संशोधन किया गया था। यह अभिनिर्धारित किया गया कि मूल धारा के द्वारा डिग्री पर ग्रहण पड़ गया था, जिस कारण उसे निष्पादित नहीं किया जा सका और ग्रहण की परछाई संशोधन द्वारा भूतलक्षी संशोधन से समाप्त कर दिये जाने के पश्चात् डिग्री पुनरुज्जीवित और निष्पादनीय हो गयी।

**महेन्द्र लाल सैनी बनाम स्टेट ऑफ उत्तर प्रदेश**, A.I.R. 1963, S.C. 1019 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा यह अवधारित किया गया कि आच्छादन (ग्रहण) का सिद्धान्त केवल पूर्व विधिओं पर लागू होता है, संविधानोत्तर विधियों पर नहीं।

**(ब) सार और मर्म का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि, यदि कोई अधिनियमिति सारतः संविधान के द्वारा प्रदत्त उस विधायिका की शक्तियों के अन्तर्गत है जिसने उसे अधिनियमित किया है तो वह केवल इस कारण अविधिमान्य नहीं हो जाती कि वह संविधान के द्वारा प्रदत्त किसी अन्य विधायिका के क्षेत्र को भी आनुषांगिक रूप में छूती है। अतः यह सिद्धान्त किसी विधायिका की सम्बद्ध सूची में प्रगणित विषय पर विधि बनाने की सक्षमता को जाँचने के लिए लागू किया जाता है। न्यायालयों के समक्ष यह प्रश्न बार-बार आता रहता है कि क्या एक विधि जो किसी विशिष्ट प्रविष्टि या प्रविष्टियों पर तात्पर्यित है, वास्तव में क्या किसी और सूची में किसी अन्य प्रविष्टि के अन्तर्गत बनायी गयी है जिसमें वह विधायिका विधि बनाने के लिए सक्षम नहीं थी, और इस प्रश्न का हल सार और मर्म के सिद्धान्त को लागू करके निकाला जाता है।

**एम. इस्माइल फारूकी बनाम भारत संघ**, A.I.R. 1995, S.C. 605 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा स्पष्ट किया गया कि अयोध्या के कतिपय क्षेत्रों का अर्जन अधिनियम, 1993 का सार और मर्म सम्पत्ति का अर्जन है, लोक व्यवस्था नहीं। यह अधिनियम समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 के अन्तर्गत अधिनियमित है। सुसंगत संमेष में उत्तर प्रदेश राज्य राष्ट्रपति शासन में होने के कारण संसद की विधायी सक्षमता पर कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। ऐसा अर्थान्वयन जो वृहत् राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहित करता है, गुटबन्दी और फूट को जन्म देने वाले कठोर शाब्दिक अर्थान्वयन से श्रेयस्कर है।

**झीलूभाई नानभाई खाचर बनाम गुजरात राज्य**, A.I.R. 1995, S.C. 142 के मामले में मुम्बई भूधृति राजस्व संहिता एवं भूधृति समाप्ति विधियाँ (गुजरात) संशोधन अधिनियम, 1982 को विधिमान्यता तथा राज्य सूची की प्रविष्टि 18 में प्रयुक्त शब्द 'भूमि' के अर्थ के प्रश्नों पर विचार किया गया। उच्चतम न्यायालय द्वारा स्पष्ट किया गया कि संशोधन अधिनियम का सार और मर्म मुख्य रूप में गिरासदारों, वारखलीदारों या अन्य व्यक्तियों में किसी अनुदान या करार द्वारा अथवा न्यायालय की डिक्री, आदेश या निर्णय द्वारा निहित अधिकारों की समाप्ति है जिनका सम्बन्ध उन भूमियों से है जिनमें खानें, खनिज अथवा खदानें हैं और उनके अर्जन द्वारा उन्हें राज्य में निहित करना है। राज्य सूची की प्रविष्टि 18 में प्रयुक्त शब्द 'भूमि' का अर्थ कवल कृषीय भूमि में तक ही सीमित नहीं है। भूमि में विद्यमान हित पर निर्बन्धन अथवा उसकी समाप्ति में भूमि में या भूमि पर अधिकारों की समाप्ति के लिए उपबन्ध भी सम्मिलित हैं। संशोधन अधिनियम राज्य सूची की प्रविष्टियों 23 एवं 18 के अन्तर्गत है जिन्हें समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 के अन्तर्गत पढ़ा जाना चाहिए।

**डी. एन. बैनर्जी बनाम पी. आर. मुखर्जी**, A.I.R. 1953, S.C. 58 के मामले में ऐसा ही प्रश्न अन्तर्ग्रस्त था। संसद द्वारा औद्योगिक विवाद अधिनियम पारित किया गया जो नगरपालिका एवं उसके कर्मचारियों को भी प्रभावित करता था। इस अधिनियम को इस आधार पर चुनौती दी गयी कि नगरपालिका स्थानीय स्वशासन का विषय है, जो राज्य सूची में आता है अतः उस पर संसद द्वारा विधि का निर्माण नहीं किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा सार तत्व ग्रहण के सिद्धान्त को लागू करते हुए यह अवधारित किया गया कि संसद द्वारा औद्योगिक विवाद अधिनियम पारित करने का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक एवं श्रम सम्बन्धी विवादों पर विधि निर्मित करना रहा है जोकि संघ सूची का विषय है। स्थानीय स्वशासन को प्रभावित करने का उसका कोई उद्देश्य नहीं था। अतः यह अधिनियम विधिमान्य है।

इस प्रकार सार तत्व ग्रहण का सिद्धान्त सार और मर्म के आधार पर विधियों का बचाव करता है। यदि यह सिद्धान्त नहीं होता तो शायद कई विधियाँ अविधिमान्य घोषित हो जातीं।

Q3. साधारण खण्ड अधिनियम के अंतर्गत निम्नलिखित को परिभाषित कीजिये --

(i) सरकारी प्रतिभूतियां ।

(ii) स्थावर संपत्ति ।

(i) **सरकारी प्रतिभूतियाँ (Government Securities)** – साधारण खण्ड अधिनियम, उत्तर – (i) 1897 की धारा 3(24) के अनुसार सरकारी प्रतिभूतियों से केन्द्रीय सरकार की या किसी राज्य सरकार की प्रतिभूतियाँ अभिप्रेत होंगी किन्तु संविधान के प्रारम्भ से पूर्व बनाये गए किसी अधिनियम या विनियम में किसी भाग 'ख' राज्य की सरकार की प्रतिभूतियाँ इसके अन्तर्गत नहीं आँगी।

(ii) **स्थायर सम्पत्ति (Immovable Property)** – साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 3(26) के अनुसार 'स्थायर सम्पत्ति' के अन्तर्गत भूमि, भूमि से उद्भूत होने वाले फायदे और वे चीजें जो भूबद्ध हैं या भूबद्ध किसी चीज के स्थायी रूप से जकड़ी हुई हैं, आँगे।

PGS NATIONAL COLLEGE OF LAW